Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2020 SHISRRJ | Volume 3 | Issue 4 | ISSN : 2581- 6306

भारत में वैज्ञानिक परम्पराएँ का उदभव एवं विकास

डॉ0 मो0 इमरान काजमी
S/O- मो0 इनाम
मु0–मनहरनलाल, खानकाह चौक, पो0–लालबाग, जिला–दरभंगा

सार–संक्षेप

भारत में कोई एकल, वैज्ञानिक परम्परा रही है यह मान लेना गलत होगा। एक पुरातन सभ्यता वाले इस देश के सहस्त्राब्दियों लम्बे इतिहास में बहुमुखी मौखिक और लिखित परम्पराएँ विकसित होती रही है और इनमें देशी तथा विदेशी दोनों तत्वों का मिलन होता रहा है। इस विविधता के फलस्वरूप न केवल भारतीय विज्ञान का उसकी सम्पूर्णता में स्वरूप निर्धारित करना कठिन हो गया है, अपितु 18वीं शताब्दी के अंतिम चरण में लेकर आरंभिक 19वीं सदी पर्यन्त पश्चिम में विकसित विज्ञान और प्रौद्योगिकी के साथ अंत–सम्बन्धों का स्वरूप निर्धारित भी उतना ही दुष्कर है। भारत के अन्दर भी जिसे प्रायः हिन्दू परम्परा रह जाता है उसमें अनुभव जप्य, निरीक्षण आधारित विज्ञान समेत वैज्ञानिक चिन्तन और आचरण के अनेक सूत्र थे जो ब्रह्मांड–विज्ञान और फलित ज्योतिष संबंधी विश्वासों के बाएँ–दाएँ तथा प्रायः उनके साथ संगति बैठटाते हुए क्रियाशीलज रहे। वैदिककालीन भारत में जहाँ खगोलविज्ञान अधिकांश विषयों में धार्मिक अनुष्ठानों से संपृक्त था, वहीं उत्तर वैदिक काल और आरंभिक मध्ययुग में खगोल विज्ञान, त्रिकोणमिति और बीजगणित धर्म और कर्मकांड में असंपृक्त होने लगे। सूर्यसिद्धान्त वाद के समय की अत्यन्त सफल रचना है। इसमें मध्याय उपग्रहो की गति और स्थिति, ग्रहणों के स्वरूप और समय निर्धारण, सूरज और चाँद के उदय तथा अस्त और छल्लेदार गोला जैसे खगोलशास्त्रीय उपकरणों की चर्चा करते हैं, परन्तु इसमें विश्वोत्पत्ति तथा सूरज और चाँद के कुछ अशुभ पक्षो का भी उल्लेख मिलता है।

शब्द कुंजी : वैज्ञानिक परम्परा, खगोल विज्ञान, चिकित्सीय विज्ञान, प्रौद्योगिकी

प्रस्तावना

सुविज्ञान भारत की प्राचीन वैज्ञानिक सम्पन्नता और विविधता को दीर्घकाल में स्वीकार करते रहे हैं, परन्तु पिछली दो शताब्दियों में इन्हें आकालपक्व आरंभिक उपलब्धि मानते हुए पश्चवर्ती काल में इन्हें ट्राममान और पतनोन्मुखी मानने की परिपाटी भी चल पड़ी है। 18वीं सदी के अंतिम और 19वीं सदी के प्रारंभिक चरणों में यूरोपीय प्राच्यविदो ने भारत को एक ऐसे प्राचीन सम्पता सम्पन्न देश के रूप में चित्रित किया है जो प्राचीन ग्रीक और रोपन सम्पताओं के समकक्ष और कतिपय मामलों में उनमें उच्चतर तथा उनका पुरोगामी एक उत्साही लेखक की तो यह भी टिप्पणी है कि एशियाई लोगों ने ग्रीमवासियों के द्वारा वर्णमाला सीखने के पूर्व ही विज्ञान के क्षेत्र में उत्कर्ष प्राप्त करी लिया था।[1] खगोलविज्ञान, गणित और आयुर्विज्ञान में तो हिन्दू विज्ञान ने ईसा के पूर्व ही दक्षता प्राप्त कर ली थी। बाद में वे ही सारे अनुसंधानों के उद्‌गम–स्रोत बने, जिन्हें पाश्चात्य सभ्यता ने ग्रहण कर अपने में समाविष्ट कर लिया। उदाहरणस्वरूप अरबी अंको और शून्य के प्रयोग को लिया जा सकता है।[2] परन्तु इस प्राच्यशास्त्रीव्याख्या के अनुसार भारतीय सफलता अपनी आरंभिक उपलब्धियों को अक्षुण्ण रखने में असमर्थ थी, जिसके फलस्वरूप वह आगे चलकर पतनोन्मुखी हो गई। इस पतनोन्मुखी स्थिति में प्राचीन ग्रंथो पर आँख मूँदकर विश्वास किया जाने लगा, निरीक्षण का स्थान परम्परा ने ले लिया और धर्म ने विज्ञान के पदच्युत कर दिया। इसका आंशिक कारण तो निश्चय ही हिन्दू समाज के भीतर बढ़ती वर्णव्यवस्था और धार्मिक अंधविश्वास था, परन्तु ईसा की 11वीं शताब्दी के बाद दक्षिण एशिया में इस्लामी ताकत का अभ्युदय भी एक प्रमुख कारक था। इस्लाम ने कतिपय निजी वैज्ञानिक और प्राविधिक कौशल वा समावेश तो कराया, परन्तु मुख्य रूप में इसे प्राचीन सभ्यता के अवशेषों में विध्वसंक के रूप में ही देखा गया। 1707 के बाद मुगल साम्राज्य का पतन, भारत का परस्पर विरोधी गुटो और क्षेत्रीय राज्यों में विभाजन और परिणामस्वरूप उत्पन्न अराजकता के युग भारतीय विज्ञान प्रौद्योगिकी एवं आयुर्विज्ञान में उत्पन्न गतिरोध और ह्रास के लिए उत्तरदायी माने गये। स्पष्ट है कि दक्षिण एशिया में पाश्चात्य विज्ञान के प्रचार प्रसार में भारतीय विज्ञान ने पात्र उपोद्‌घात का काम किया,

क्योंकि शताब्दियों की अवनति एवं आल्पदृश्यता के पश्चात् ब्रिटिश शासन ने पाश्चात्य जगत के अधिक विकसित वैज्ञानिक और प्राविधिक ज्ञान के द्वारा इसे अंधेरे में निकालकर उजाले में खड़ा किया। इसमें स्पष्ट है कि भारतीय ज्ञान विज्ञान के संबंध में प्राच्यविदो के मत के तीन पक्ष रहे हैं। प्राचीन भारतीय सभ्यता की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों, मुस्लिम मध्ययुग में इस सभ्यता का अद्यःपतन तथा आधुनिक ब्रिटिश औपनिवेशिक काल का प्रबुद्ध शासन एवं वैज्ञानिक प्रगति। इस उपमहाद्विपीय विज्ञान के विषय में इस मत को व्यापक स्वीकृति मिली है। यह एक ऐसी युक्ति है जिसका उपयोग न केवल ब्रिटिश विद्वानों, अधिकारियों और विवादियों ने वरन अनेक भारतीयों ने भी किया है। इसने इन्हें अतीत और भारतीय परम्परा तथा आधुनिकता में विज्ञान के संबंध में अपनी समझ बनाने का आधार प्रदान किया है। आज भी ऐसी भारतीय लेखक है जो स्पष्टतः सखेद टिप्पणी करते है कि भारतीय विज्ञान की दर्जनात्मक चेतना 12वीं तथा मध्य 19वीं सदी के अन्तराल में अपने अपकर्ष में निम्नतय बिन्दु पर पहुँच गई थी।[3]

परन्तु हाल के वर्षों में कुछेक इतिहासकारों ने इन प्राच्यविदो की उपयुक्त धारणा में असहमति जताते हुए मध्ययुगीन और आरंभिक आधुनिक भारत के विज्ञान, प्रौद्योगिकी और आयुर्विज्ञान पर नई रोशनी डालने का प्रयास किया है। उन्होंने भारत की वैज्ञानिक परम्परा में इस्लाम की देन, अथवा विज्ञान की सहायता में एक गतिशील एवं समन्वयात्मक भारतीय इस्लामी संस्कृति के उद्भव को उजागकर करने का प्रयास किया है। इतिहास लेखन की इस नवीन प्रवृति में आयुर्विज्ञान पर विशेष बल दिया गया है। इसके अनुसार हिन्दू आयुर्वेद और ग्रीक अरबी मूल में उत्पन्न यूनानी तिब्ब ने सर्जनात्मक संश्लेषण के द्वारा एक दूसरे को समृद्ध किया और दोनों पद्धतियों के चिकित्सको, वैद्यो तथा हकीमो के बीच कभी भी पतिद्वंद्विता अथवा विद्वेष का भावहीन रहा है। चिन्तन की इस नई दिशा में 18वीं सदी में भारत में वैज्ञानिक परम्पराओं की सतत विदयमान जीवंतता एवं उनके अंतर्मिलन को समझने में मदद मिली है। यहाँ इतना अवश्य जोड़ा जा सकता है कि यूनानी शरीर विज्ञान तथा आयुर्विज्ञान भारतीय पर्यावरण और क्षेत्रीय आयुर्विज्ञान को उसी प्रकार भावित करते रहे जितस प्रकार आयर्वेदिक पद्धति को।[4] यह भी दर्शाने के नवीन प्रयास किए गए है कि

भारत ने सांस्कृतिक और प्रौद्योगिकी अलगाव रखने तथा सभी प्रकार के अभिनव परिवर्तनों में विमुख रहने के बदले शताब्दियों में पड़ोसी देशों, मध्यपूर्व तथा मध्य एशिया से लेकर चीन और दक्षिणपूर्व एशिया के साथ कृषि, स्थापत्य, खगोल विज्ञान, रसायनशास्त्र, आयुर्विज्ञान, धातुविज्ञान, वस्त्र उत्पादन, पोत निर्माण, युद्ध सामग्रियों के निर्माण जैसे विविध क्षेत्रों में खुलास आदान–प्रदान बनाए रखा।[5] यह विलक्षण सांस्कृतिक ग्रहणशीलता तथा सीमापार के प्रदेशों के साथ आदान–प्रदान की प्रक्रिया भारतीय विज्ञान को चीन, इस्लामी मध्यपूर्व तथा गैर यूरोपीय संस्कृतियों की सर्जनशीलता, प्रसार और पारस्परिक आदान–प्रदान के प्रतिपानो के साथ गहरे रूप में जोड़ती है। हाल के वर्षों में जोसेफ नीधप ने अपनी पुस्तक 'साइंस एण्ड सिविलाइजेशन इन चाइना' में तथा अन्य संशोधनवादी विचारको जैसे लिनहाक्ट ने अधिकारिक रूप में एशियाई प्रौद्योगिकी के प्रति यूरोप के आभार की चर्चा की है।[6]

संशोधनवादियों का उपर्युक्त तर्क स्पष्टतः इस दावे का खण्डन करता है कि एक ठहरे हुए परिवर्तन–विमुख भारत पर पश्चिम ने पहली बार अपने विज्ञान, प्रौद्योगिकी और आयुर्विज्ञान की मुहर लगाकर इसे प्रबुद्ध एवं प्रगतिशील बनाया। 15वीं सदी के अंतिम चरण में जिस वैज्ञानिक, चिकित्सीय तथा प्रौद्योगिकी आदान–प्रदान का क्रम प्रारंभ हुआ, वह वाणिज्य और युद्ध के अभिकरण एवं उत्प्रेरण के अतिरिक्त विद्वानों, व्यापारियों, चिकित्सकों और शिल्पकारों के प्रवास के द्वार लगातार चलता रहा। बाह्म विश्व के भारत का सम्पर्क दो दिशाओं में हुआ, एक ओर तो इस्लाम के अधिक विस्तृत जगत में तो दूसरी ओर यूरोप की लगातार बढ़ती व्यपारिक और प्रौद्योगिकी शक्ति के साथ। मुगलों के शासन काल में जिस प्रकार की भारतीय–मुस्लिम राज्य व्यवस्था एवं संस्कृति पनपी उससे खगोल–विज्ञान, आयुर्विज्ञान, वस्त्र उद्योग और आयुध निर्माण के क्षेत्रों में विशेष प्रगति हुई। 1498 के बाद पहले पुर्तगालियों तथा उसके बाद डचों, फ्रांसीसियों और अंग्रेजों के साथ जुड़े सम्पर्कों के फलस्वरूप पोत निर्माण और बागवानी जैसे क्षेत्रों को भी पर्याप्त प्रोत्साहन मिला।[7] यदि अशिक्षित शिल्पकारों की कारीगरी और विद्वत समुदाय के बीच कोई खाई थी, यदि 1750 ई0 के पूर्व शायद ही ऐसे लोग थे जिन्हें वैज्ञानिक कहा जा सकता था

तो यही बात यूरोप, चीन और अन्य देशों के आधुनिक विज्ञान के प्रारंभिक काल पर भी लागू होती थी। धर्म और संस्कृति में सम्बद्ध विशिष्ट वर्ग के बौद्धिक क्रिया–कलाप तथा शिल्पकारों के कौशल ने संयुक्त रूप में विज्ञान और प्रौद्योगिकी में भारत को विशिष्टता प्रदान की, भले ही वे एक दूसरे में पृथक और स्तंत्र अस्तित्व रखते रहे हो। यदा कदा, अपवादस्वरूप ही सही, दोनों जुड़ भी जाते थे, जैसे अकबर के दरबार में सामरिक आवश्यकताओं और बौद्धिक जिज्ञासा के प्रोत्साहन में दोनों को एकजुट कर दिया था।[8]

यद्यपि 16वीं सदी के प्रथम चरण में ही मुगल दरबार विज्ञान और प्रौद्योगिकी का प्रमुख संरक्षण स्थल बना रहा, परन्तु ऐसा नहीं था कि 18वीं सदी में मुगल राजवंश के पतन के साथ भारत अंधकार के युग में चला गया, भले ही संस्कृत, फारसी और अरबी में लिपिबद्ध की जाने वाली विज्ञान और प्रविधि की पाण्डुलिपियों की संख्या मेंकमी आ गई।[9] भारत के प्रादेशिक दरबारों में राजकीय संरक्षण के अधीन विज्ञान में अभिरूचि बढ़ती रही। उदाहरणस्वरूप राजा जयसिंह ने 1722 से 1739 के बीच जयपुर, दिल्ली, मथुरा, उजैन और बनारस में खगोलीय वेधशालाएँ बनवाई। तंजौर के अंतिम मराठा शासक सरफौजी ने विभिन्न औषध–विज्ञानों में अभिरूचि ली और भारतीय तथा पाश्चात्य आयुर्विज्ञान के मूलग्रंथो को संगृहीत करवाया।[10] ज्ञान के नए–नए केन्द्र खोले और अवध के नबाबो के अधीन लखनऊ ऐसे केन्द्र थे जहाँ ईस्लामी विज्ञान तथा यूनानी चिकित्साशास्त्र में शिक्षार्थी विशिष्टता प्राप्त करते थे तो दूसरी ओर अन्य प्राचीनतर मुख्यतः हिन्दू ज्ञान केन्द्र, जैसे बनारस और पश्चिम बंगाल में नाडिया फलते फूलते रहे। मुगल साम्राज्य के विघटन के बद भी दिल्ली विज्ञान, कला और साहित्य का प्रमुख केन्द्र बनी रही और 1857 की क्रांति तक एक धुँधले पुनर्जागरण की आभा बिखेरती रही।[11] लेकिन कुछ ऐसे क्षेत्र भी थे जहाँ नई प्रौद्योगिकी के प्रति भारत उदासीन बना रहा। 16वीं सदी के मध्य में जेसुईट सम्प्रदाय के द्वारा गोआ में मुद्रणयंग के प्रतिष्ठान के बाबजूद 18वीं सदी के अंतिम चरण तक भारत में कोई खास हलचल नहीं पैदा हुई। परन्तु 19वीं सदी में इसके विस्मयकारी द्रुतगामिता के साथ प्रसार ने ऐसे किसी भी संकेत को झुठला दिया कि मुद्रणयंत्र किसी यांत्रिक पिछड़ेपन का परिणाम था।[12] मुद्रणयंत्र को अपनाने में दीर्घसूत्रता प्रौद्योगिकी परिवर्तन के

प्रति किसी दीर्घकालिक प्रतिरोध की भावना का प्रतिफल नहीं थी। यह मात्र इस बात की दयोतक थी कि भारत पाश्चात्य विज्ञान, प्रौद्योगिकी और चिकित्सा प्रणाली को अपनाने में चयनशीलता बरत रहा था और अपने प्रतिष्ठित सांस्कृतिक मूल्यों तथा शिल्पकारों और लिपिको में कला कौशल को पाण्डुलिपियों की परम्परा में अक्षुण्ण रखने के प्रति आग्रहशील था।[13] इसके विपरीत सामरिक निपुणता से संबंधित विषय तत्कालीन परिस्थिति में अधिक महत्त्व के थे, अतः उन पर विशेष ध्यान दिया गया। यह केवल मुगलों के संबंध में ही नहीं, अपितु मैसूर के टीपू सुल्तान और पंजाब में रणजीत सिंह, जिसकी संधानशालाएँ 19वीं सदी के तीसरे और चौथे दशकों के बीच लाहौर और अमृतसर में भारी बन्दूकें और तोपें बनाती थी, की सेनाओं के विषय में लागू होता था।[14]

जिस प्रकार भारतीय विज्ञान के कालचक्र के संबंध में पुनर्विचार करना तथा प्राच्यविदो की एतद् विषयक पुरानी अवधारणा को खंडित करना आवश्यक है, वैसे ही यह भी आवश्यक है कि आंतरिक विविधताओं से भरे विशाल भारज के विज्ञान, प्रौद्योगिकी और आयुर्विज्ञान की महत्ता का पुनर्मूल्याकंन किया जाए। यहसही है कि भारतीय विज्ञान अथवा हिन्दू आयुर्विज्ञान जैसे पदो का प्रयोग प्रविधाजनक चलन सा बना गया है, परन्तु ऐसी उक्तियाँ इस उपमहाद्वीप के एक हिस्से तथा दूसरे हिस्से के बिज की व्यापक विविधताओं को अभिव्यंजित नहीं कर पाती। भारत की राजनीतिक और सांस्कृतिक व्यवस्था के विकेन्द्रित स्वरूप ने 18वीं सदी में विज्ञान, प्रौद्योगिकी और आयुर्विज्ञान की अनेक पद्धतियों के विकास में मदद की और प्रत्येक को अपना विशिष्ट चरित्र विकसित करने की क्षमता प्रदान की। इस विविधता की कुछ अंतनिर्हित अच्छाइयाँ भी थी और कुछ त्रुटियाँ भी। एक केन्द्र के पतन में दूसरे केन्द्र के बने रहने में कोई बाधार नहीं पड़ती थी। विभिन्न क्षेत्रों के तरह–तरह के बौद्धिक एवं भौतिक उत्पादों और उनके पारस्परिक प्रभाव एवं विनियम में सम्पूर्ण भारत लाभान्वित होता था। आयुर्वेद और यूनानी दोनों चिकित्सा पद्धतियों की क्षेत्रीय शाखाएँ कार्यरत थी। इसी प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में कपड़ा बुनने और रंगने के भिन्न–भिन्न तरीके के काम में लाए जाते थे।

भारतीय पर्यावरण की भौतिक भिन्नताओं, दक्षिण एशिया की महाद्वीपीय कला तथा राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों की बहुलता के फलस्वरूप आंतरिक विविधता का विकास हुआ तथा स्थानीय स्तर पर विशिष्टता हासिल करने के अवसर बढ़े, परन्तु एक भिन्न परिप्रेक्ष्य में देखने पर यह भी स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि भारत के विशाल आंतरिक भूभागों को जीतने और उन्हें एकजुट करने के लिए विज्ञान, प्रौद्योगिकी और आयुर्विज्ञान में सैद्धांतिक अभिकरण तथा भौतिक माध्यम को उपयोग में लाने के प्रयत्नों में भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

निष्कर्ष

भारत में विज्ञान के इतिहास में राजदरबारी या क्षेत्रीय सत्ता–केन्द्रों और देहातों के बीच अथवा पुराने और नए नगरों के बीच बार–बार तनाव की स्थिति बनती रही। औपनिवेशिक विज्ञान से भारत के तीन समुद्रतीय महानगरो–कलकत्ता, बम्बई और मद्रास की सांस्कृतिक, व्यापारिक और राजनीतिक तरक्की में जो भी वृद्धि हुई हो, यह ध्यान में रखना चाहिए कि इन महानगरों के विकास में उन शिल्पकारों और बुद्धिजीवियों का योगदान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं रहा है, जो उत्पादन और ज्ञान के केन्द्रों में निकलकर इन तक आए थे। फिर बनारस और दिल्ली जैसे अधिक पुराने ज्ञान केन्द्र थे जिनमें समय के अनुरूप अपने को ठालने की अद्‌भूत क्षमता थी। यह रेखांकित करने लायक तथ्य है कि भिन्न गंगारर के किनारे चार महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर अवस्थित लाहौर, लखनऊ, इलाहाबाद और ठाका के विश्वविद्यालयों में 1940 के दशक तक विज्ञान विभाग पूरे उत्कर्ष पर थे। ये विश्वविद्यालय ऐसे नगरों में थे जो दो सदी पूर्व में ही भारत के सांस्कृतिक राजनीतिक क्षितिज को देहीप्ययान कर रहे थे।

नगरों वाली बात सामाजिक समुदायों पर भी लागू होती है। भारत के पुराने प्रबुद्ध वर्गों में से कुछ नई वैज्ञानिक व्यवस्था के व्याख्याकार एवं संवाहक के रूप में उठ खड़े हुए, जैसा कि औपनिवेशिक बंगाल के भद्रलोक के घटकों, ब्राह्मणों, वैद्यों और कायस्थों के उदाहरण में स्पष्ट होता है। यह बौद्धिक और सामाजिक सामर्थ्य की निरंतरता का ही संकेतक है कि भारत के स्वतंत्र होने के पूर्व विश्व का सर्वाधिक सम्मानजनक पारितोषिक

नोबुल पुरस्कार एक तमिल ब्राह्मध्स को प्रदान किया गया। परन्तु यह भी ध्यातव्य है कि अन्य सामाजिक समुदायों ने भी वैज्ञानिक आधुनिकता अपनाई। पुराने प्रबुद्ध वर्ग ने अपने आधुनिक उपव्यवसाय में अपनी पारम्परिक पृष्ठभूमि में प्राप्त कुशलता, सूझ तथा अंतःप्रेरणा का किससीमा तक उपयोग किया, यह कुतूहल का विषय है और इतिहासकारो द्वारा इसकी सही छानवीन अब तक नहीं की गई है। ठीक इसी प्रकार 18वीं सदी के अंतिम और 19वीं सदी के प्रथम चरण में ब्रिटिश सत्ता की बढ़ती ताकत के सामने अनेक देशी राज्यों ने घुटने टेक दिए जिसकी परिपति 1856 में अवध का समामेलन तथा उसके दो वर्षों बाद मुगलों की दिल्ली के विनाश में हुई। इसके बाबजूद भारत के बचे खुचेराजाओं और अभिजातवर्ग ने जिस सीमा तक विज्ञान को 19वीं और 20वीं सदी में संरक्षण प्रदान किया, वह विस्मयकारी प्रतीत होता है। यह संरक्षण भी विज्ञान की किसी एक शाखा में नहीं, वरन् खगोल–विज्ञान; आयुर्विज्ञान और तकनीकी की शिक्षा जैसे एक दूसरे में सर्वथा भिन्न विषयों में प्रदान किया गया। 1898 में मैसूर की रियासत में भारत को प्रथम विशाल पनबिजली परियोजना का निर्माण तथा उसके दस वर्षों के बाद बंगलोर में भारतीय विज्ञान संस्थान (Indian Institute of Science) की स्थापना जैसी चीजें स्पष्ट संकेत देती है कि किस प्रकार देशी रियासतें अपनी परिसिमित सत्ता के बावजूद ब्रिटिश संरक्षण एवं प्रोत्साहन से भिन्न साहसिक विकल्प देती थी। इस दोहरे संरक्षण एवं प्रोत्साहन में विज्ञान की प्रगति में मदद तो मिली, लेकिन इससे अन्य अनेक मामलों में पश्चवर्ती औपनिवेशिक काल में भारत को एकल वैज्ञानिक सत्ता का रूप देने के लिए संस्थाओं और संगठनों के निर्माण के प्रयास में भारी कठिनाइयाँ भी पैदा हुई।

स्पष्ट है कि देशी परम्पराओं की जीवंतता और विविधता प्रमाणित करने के लिए ब्रिटिश शासन के पूर्व के भारतीय विज्ञान, प्रौद्योगिकी और आयुर्विज्ञान के चरित्र का पुनर्मूल्यांकन तो आवश्यक है ही, पर ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद जो कुछ हुआ उसे व्यापक संदर्भ में देखने समझने में भी हमारी मदद करता है। यह मानना कठिन है कि भारत वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी दृष्टि में कोरा कागज था और उसकी उपलब्धियाँ सूदूर अतीत की चीजें थी जिसके फलस्वरूप वे दक्षिण एशिया में विज्ञान के प्रवाह को प्रभावित

अथवा अनुप्राणित करने में असमर्थ थी। भारत की पूर्व उपनिवेशकालीन वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक परम्परा के खुलापन और अनुकूलनशीलता की स्वीकृति में इस मत की पुष्टि होती है कि औपनिवेशिक काल दो हठधर्मी शक्तियों के बीच खराब अथवा यूरोप में निर्विवाद प्रभुत्व का काल न होकर दोनों के बीच अंतःक्रियाशीलता का काल था। निश्चिय ही यह मत सर्वथा उपयुक्त एवं तर्कसंगत है। तथापि, पूर्व उपनिवेशकालीन विज्ञान और उसकी विरासत को बढ़ा चढ़कार आंकना उचित नहीं है। यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि औपनिवेशिक हस्तक्षेप और पाश्चात्य विज्ञान, प्रौद्योगिकी और आयुर्विज्ञान के अभूतपूर्व प्रभाव ने भारतीय समाज में भौतिक और बौद्धिक दोनों स्तरों पर गहरी खाई पैदा की है।

संदर्भ :

1. डेविड क्रॉक, ब्रिटिश ओरिएंटालिज्म एण्ड द बंगाल रेनोसो द डाइनैमिक्स ऑफ इंडियन माडर्नाइजेशन, 1773–1835, पृ–102
2. मौंटस्टुअर्ड एलफिंस्टन, हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ–138–60
3. बी.बी. सुब्बाराम्प्पा, वेर्स्टन साइंस इन इण्डियाअप टू द एण्ड ऑफ द नाइंटीथ सेंचुरी

डी0 एम0 बोस, एम एनसेनएण्ड बी0बी0 सुब्बारायप्पा : ए कंन्साइज हिस्ट्री ऑफ साइंस इन इण्डिया (नई दिल्ली 1971) पृ–484

4. आर.एल.वर्मा, द ग्रोथ ऑफ ग्रेसो–अरेबियन मेडिसिन इन मेडिइंबल इण्डिया, आइ. जे एच एम, 5 (1970) पृ–347–63, साइंस, पृ0 78–79
5. एम.एन.सेन, इनफ्लुअन्स ऑफ इण्डियन साइंस ऑन अदर कल्चर एरियाज, आइ. जे एच एम, 5 (1970) पृ–332–46
6. जोसेफ नीधम, द शार्टर साइंस एण्ड सिविलाइजेशन इन चाइना (4 कैंब्रिज–1978–94)
7. ए. जान कैमर, द इण्डियन रिस्पॉन्स टू यूरोपियन टेक्नोलॉजी एण्ड कल्चर (दिल्ली–1982)

इरफान हबीब, द टेक्नॉलॉजि एण्ड इकॉनॉमी ऑफ मुगल इण्डिया, आई ई. एस एच आर, 27 (1980) पृ0 1–14

8. इरफान हबीब, अकबर एण्ड टेक्नोलॉजी, (दिल्ली–1997) पृ–129–48
9. ए रहमान (एडिशन), साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी इन मेडिईवल इण्डिया (नई दिल्ली–1982) पृ–XI–XXI
10. बबर, साइंस, पृ–85–90
11. गैल मिनॉल्ट, सैयद अहमद देहलवी एण्ड द देल्ही रेनासो, दिल्ली 1986, पृ–174–85
12. एल.एस.एस.ओ मैली, मैकैन्जिम एण्ड ट्रासपोर्ट, लन्दन 1941, पृ–221
13. सी0 ए0 बेली, इंपायर एण्ड इन्फॉर्मेशन : इंटेलिजेंस गेदरिंग एण्ड सोशल कम्यूनिकेशन इन इण्डिया, 1780–1870, पृ– 235–43
14. आर्नोल्ड पेसी, टेक्नॉलॉजि इन वर्ल्ड सिविलाइजेशन : एथाउजैंड–इयर हिस्ट्र, पृ–144